नारीवाद के बिना सामाजिक विमर्श की सार्थकता

प्रभा खेतान

नारीवाद एक सामाजिक सिद्धांत है, एक राजनैतिक आंदोलन जो मूलतः स्त्री के अनुभवों पर आधारित एवं उससे निर्देशित होता है। 'व्यक्ति' के रूप में बदलती हुई स्त्री, समाज से अपने जीवन के प्रति निर्णय का अधिकार चाहती है। इस अधिकार के संदर्भ में उसे जिन-जिन सामाजिक दबावों का सामना करना होता है, उनका आलोचनात्मक ब्यौरा ही वास्तव में नारीवाद की वास्तविक परिभाषा है।

नारीवाद आंदोलनकर्ता, स्त्री-पुरुष के बीच सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक समानता की मांग करते हैं। पुनुर्त्पादन का अधिकार, घरेलू हिंसा, ऐच्छिक मातृत्व, यौन उत्पीड़न तथा यौन हिंसा की चर्चा करते हुए स्त्री क्रमशः पितृसत्ता और उसके दमनकारी रुख तथा अमानवीयकरण का पर्दाफाश करती है। ऐसा नहीं कि परंपरा में स्त्री के विद्रोह की कहानियां नहीं हैं या स्त्री ने अपने मौलिक अधिकारों के लिए अतीत में कभी विद्रोह नहीं किया। किंतु इसके बावजूद वर्तमान समय में स्त्री की अधिकार संबंधी सक्रियता, एक जमीनी स्तर का आंदोलन बनकर उभरी है जो वर्ग और जाति की सीमाओं का अतिक्रमण करती नजर आती है।

नारीवादी चिंतकों के अनुसार लैंगिक पहचान, लैंगिक भूमिका तथा यौनिकता अपने-आप में एक सामाजिक संरचना है, जो स्त्री को गौण स्तर पर रखती है। नारीवाद का मानना है स्त्री के मुक्त होते ही पुरुष भी मुक्त हो जाएगा जिससे अन्य सामाजिक समस्याओं का निदान भी होगा क्योंकि नारीवाद भी मानव मुक्ति के लिए किए आंदोलनों में से एक है। यह अन्य आंदोलनों से प्रभावित भी होता है और उन पर अपना प्रभाव भी डालता है।

हालांकि नारीवाद की अधिकतर प्रवक्ता स्त्रियां रही हैं किंतु प्रत्येक स्त्री नारीवादी नहीं। कुछेक नारीवादी स्त्रियों का तर्क है कि पुरुषों को इस आंदोलन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि पुरुष अंततः सोपानीकृत नेतृत्व के भीतर स्वयं को सत्तासीन करना चाहेगा जो स्त्री-मुक्ति के लिए बाधक होगा और स्त्री के प्रतिनिधित्व को क्षति पहुंचाएगा। ऐसा नहीं कि स्त्री-पुरुष की इस आपसी दूरी के कारण स्त्रियां पुरुष-विरोधी हो जाएगी, बल्कि नेतृत्व की बागडोर अपने हाथ में रखते हुए भी स्त्रियां पुरुषों को सहायता और सहयोग देती रहेंगी। क्या पुरुष भी नारीवादी या नारीवादी विचारधारा के पक्षधर हो सकते हैं? या फिर नारीवादी आंदोलनों में उनका योगदान हो सकता है? कुछ नारीवादी स्त्रियों का तर्क है कि पुरुष का यह हस्तक्षेप स्त्री के लिए सुखद होते हुए भी अंततः स्त्री की छवि को विरूपित करेगा। पितृसत्ता की राजनीति यहां भी घुसपैठ किए बिना मानेगी नहीं। अतः स्त्री-मुक्ति के पैरोकार एवं नारीवादी विचारधारा से सहमत पुरुषों को नारीवादी समर्थक यानी 'प्रो-फेमिनिस्ट' तो कहा जा सकता है किंतु 'फेमिनिस्ट' नहीं। कारण स्त्री होने का अनुभव अपने-आप में एक ऐसा विशिष्ट अनुभव है जिसे पुरुष कभी नहीं पा सकता। जिस दमन का अनुभव स्त्री को होता है, पुरुष को उसका अनुभव कभी नहीं हो सकता।

नारीवादी आंदोलनों का पश्चिम समाज पर काफी प्रभाव पड़ा, विशेषकर आज की स्त्री, अपने देह पर अपना नियंत्रण चाहती है और अपने स्वास्थ्य के बारे में डाक्टरी निर्णय स्वयं लेना चाहती है। यानी वह नहीं चाहती कि पुरुष डॉक्टर, उस पर अस्वस्थ होने का या मानसिक रूप से रुग्ण होने का लेबल चिपकाए। वह प्रजनन के अधिकार पर अपना नियंत्रण चाहती है। इसी प्रकार गर्भपात का भी अधिकार वह अपने हाथ में रखना चाहती है जबकि कुछेक पश्चिमी स्त्रियों के अनुसार नारीवाद ने यह लड़ाई जीत ली है और इनमें से कुछ मुद्दे केवल नारीवादी तक सीमित नहीं है, क्योंकि वे स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से प्रभावित करते हैं। आज हम सभी स्वीकारते हैं कि स्त्री को चुनाव का अधिकार है या संपत्ति पर उसका अधिकार होना चाहिए। जबकि आज से सौ वर्ष पहले यह एक अजूबा और असंभव विचार था।

आज भी 'नारीवाद' शब्द के उच्चारण मात्र से बहुतेरे लोग चौंकते हैं। औरत की आजादी के आंदोलन को नाना प्रकार की प्रतिक्रियाओं का सामना करना पड़ा। चिली, नामीबिया, पेरू, बांग्लादेश, केन्या, रूस, पूर्वी यूरोप के देशों, कैथोलिक चर्च और हिंदू परंपरावादियों की नजर में नारीवाद अनैतिक आचरण का पर्याय है। ज़मीन से जुड़े आंदोलनकर्ताओं के अनुसार, विशेषकर पूर्वी यूरोप के वामपंथियों के अनुसार नारीवाद मात्र एक बुर्जुआ विचार है। हालत यह है कि स्त्री अधिकारों के प्रबलत्तम समर्थकों में से कुछेक लोगों ने नारीवाद को सिरे से खारिज कर दिया है। मगर ऐसा क्यों हो रहा है? इस सवाल पर अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे विभिन्न विचारधाराओं और राष्ट्रीय आंदोलनों के संदर्भों में देखा जाना चाहिए।

कुछ समाजशास्त्रियों एवं विचारकों के अनुसार नारीवादी विचारधारा का स्रोत पश्चिम रहा है। अर्थात भारतीय संदर्भ में यह एक आयातित विचारधारा है और इस विचारधारा की पैरोकार श्वेत पश्चिमी मध्यवर्गीय स्त्रियां हैं, जिनकी जीवन-शैली, परंपरा एवं मूल्यबोध से तीसरी दुनिया की औरतों को विशेष कुछ लेना-देना नहीं है। तीसरी दुनिया में तो पुरुष भी स्वतंत्र

नहीं हैं, तब भला स्त्रियां मुक्ति का दावा किस आधार पर करेंगी? अतः एक ओर यदि नारीवाद अपने पश्चिमी मूल के कारण विवादग्रस्त हुआ, तो दूसरी तरफ स्त्री द्वारा की गई स्वतंत्रता और पहचान की लड़ाई एवं इससे संबंधित विचारधारा, रणनीति और परियोजना अपने ही प्रयास में सीमित रह गई जिसके कारण मानवाधिकार के लिए किए जानेवाले अन्य मुक्तिकामी आंदोलनों से नारीवाद जुड़ नहीं पाया। यह भी मान लिया गया कि नारीवाद स्त्री को पुरुष से नफ़रत करना सिखाता है। वह एक अराजक मानसिकता का परिचायक है तथा पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्था की चूलें हिलाकर रख देना चाहता है।

दरअसल ये सभी धारणाएं भ्रामक हैं। नारीवाद एक विचारधारा और जीवन-शैली है। चूंकि स्त्री भी सोचना-समझना चाहती है इसलिए मानवाधिकार संबंधी आंदोलन स्त्री-जीवन के लिए परिवर्तनकामी हैं। युग धर्म के अनुसार किसी भी प्रचलित विचारधारा से स्त्री विचारक प्रभावित होती हैं, तथा विश्लेषण के ज़रिए उन विचारों को अपने पक्ष में मोड़ना चाहती है।

स्पष्ट रूप से पुरुष-जीवन निजी और सार्वजनिक दायरों में बंटे हुए हैं। सामाजिक मंचों पर नारी स्वतंत्रता की वकालत करनेवाला पुरुष जब घर में अपनी पत्नी को प्रताड़ित करता है तो वह विशेषाधिकार उसे निजी और सार्वजनिक के विभाजन के कारण मिलता है। जाहिर है कि स्त्री द्वारा व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं की सार्वजनिक चर्चा पुरुषों को कभी अच्छी नहीं लगेगी।

नारीवाद ने पश्चिमी एवं भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष के संबंधों को जिस तरह प्रभावित किया उसके विधेयक और निषेधक दोनों परिणाम सामने आए। बदलती हुई परिस्थिति के कारण स्त्री को एक नई परिस्थिति का सामना करना पड़ा, और इस प्रक्रिया में वैचारिक उलझन, पारंपरिक भूमिकाओं की आपसी टकराहट से जो नई परिस्थितियां पैदा हुईं उनका लाभ स्त्रियों को मिला। हालांकि इनमें से बहुतेरी स्त्रियां आज सुपर-वुमैन होने की छवि का खामियाजा भोग रही हैं। वे जीवन में सबकुछ चाहती हैं, दावा करती हैं कि उन्होंने परिवार और कैरियर में एक खुशहाल संतुलन कायम किया है। उधर इस बदलते हुए सामाजिक परिवेश और परिस्थितिजन्य मांगों के कारण पुरुषों की जिम्मेवारियां तो बढ़ी हैं, किंतु इसके साथ ही मर्दानी पहचान में कमी आई है। गर्भनिरोधक गोलियों के कारण यौन नैतिकता को लेकर बदलते हुए दृष्टिकोण से स्त्री का अपनी देह पर नियंत्रण बढ़ा है जिससे यौन आनंद में वृद्धि के साथ उच्छृंखलता को भी बढ़ावा मिला है। कुछ नारीवादी स्त्रियों का यह भी मानना है कि गर्भनिरोध से पुरुष को ज्यादा लाभ पहुंचा है। आज वह विवाह-व्यवस्था की जिम्मेवारी उठाए बिना भी यौन सुख पाता है।

धर्म पर भी नारीवाद का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। आज धर्मगुरु की सर्वोच्च सत्ता को स्त्री चुनौती देती है, या फिर वह स्वयं धर्मगुरु की गद्दी पर आसीन हो जाती है। मौलवी-मुल्ला, पंडित, पादरी के आरक्षित स्थान में स्त्रियों ने भी कदम रखा है। कोई भी धर्म वह चाहे हिंदू हो या मुसलमान, अपनी स्त्री-विरोधी छवि पेश नहीं करना चाहेगा। अपने दृष्टिकोण में प्रत्येक धर्म सुधारवादी होने को बाध्य है। बल्कि नारीवाद विचारधारा ने तो धर्म के नए मंचों का निर्माण किया है। पश्चिम में नव-मूर्तिपूजक (नियोपगान) धर्म देवी महत्व को स्वीकारता है। इस्लाम में फातिमा ज़हरा मशहूर हो रही हैं। हिंदुओं में तो शक्तिपूजा की समृद्ध परंपरा है, ईसाइयत के संदर्भ में कहा जा रहा है कि पारंपरिक रूप से मदर मेरी को कुंवारी मां की भूमिका में रखा जाना किसी भी स्त्री के लिए अनुकरणीय आदर्श नहीं है क्योंकि स्त्री की यौनिकता पर इसका प्रभाव निषेधक पड़ता है।

भारतीय समाज पर भी नारीवाद का प्रभाव तो व्यापक पड़ा है किंतु भारत में नारीवाद के आलोचकों की संख्या भी कम नहीं है। पितृसत्ता के दमन का शिकार केवल स्त्रियां ही

नहीं, पुरुष भी हैं। नारीवादी मुद्दों के उछाल के फलस्वरूप नित नई मिलनेवाली चुनौतियों से पुरुष वर्ग भी कम दमित नहीं रहा है। अमेरिका जैसे देश में स्त्रियों की तुलना में चौगुनी संख्या में पुरुष आत्महत्या करते हैं। 90 के दशक में अमेरिका में आत्महत्या करनेवालों में से 72 प्रतिशत पुरुष थे। हो सकता है आत्महत्या के अन्य बहुतेरे कारण रहे हों किंतु स्त्री-पुरुष का अलगाव, इसका एक मुख्य कारण है। आपसी वैनमस्य, घरेलू तनाव, अकेली जिंदगी ने पुरुषों को भी तोड़कर रख दिया है। अमेरिका आज ऐसा देश होता जा रहा है जहां श्वेत पुरुष सबसे अधिक प्रताड़ित है।

क्या नारीवाद प्रमुखतः एक पश्चिमी विचारधारा है? पश्चिमीकरण का आरोप लगाने वाले भारतीय नारीवाद को गलत रूप से पेश करते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में किए गए बहुतेरे आंदोलनों में से नारीवाद भी एक आंदोलन है, और स्वतंत्र भारत में हमने जो कुछ भी नया गढ़ा है वह केवल पश्चिम की नकल नहीं। स्वतंत्रता आंदोलन से स्त्री को संवैधानिक स्वतंत्रता तो मिली, पर सामाजिक स्वतंत्रता नहीं। पितृसत्ता ने अपने पर पड़ने वाले वैश्विक दबावों के कारण स्त्री को अनेक रियायतें दीं, स्त्री की छवि सुधारने की चेष्टा भी की गई ताकि वह विश्व मंच पर पुरुषों को सहयोग दे सके। इसका उद्देश्य एक प्रकार से मदर इंडिया की तर्ज पर शिक्षित, सुसंस्कृतज्ञ, कर्मठ, दृढ़ प्रतिज्ञ और चरित्रवान स्त्री की राष्ट्रीय छवि को पेश करना था। पितृसत्ता ने अपनी वैचारिक जमीन को पुख्ता करने के लिए अतीत से प्रेरणा ली और स्त्री को सती-सावित्री के आदर्श में ढालने की चेष्टा की।

नवजागरण, सुधारवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आदि के प्रणेता दयानंद सरस्वती, केशवचंद्र सेन, विवेकानंद, श्री अरविंद, सावरकर, तिलक और श्यामाप्रसाद मुखर्जी आदि रहे हैं। ये महानायक अपने-अपने रास्तों पर चलते हुए स्त्री संदर्भ में एक ही सच को प्रतिपादित करते हैं कि स्त्री को वर्ण व्यवस्था आधारित धर्म-संस्कृति के मूल और शुद्ध स्वरूप को सुरक्षित रखकर ही आगे बढ़ना चाहिए। मुक्ति-चेता स्त्री को उसी खोए हुए सुनहरे अतीत की महानता हासिल करनी चाहिए। अतः इन विचारों से प्रभावित स्त्री मानस भी भोग्या और देवी के द्वित्व से आक्रांत रहा, जिससे मुक्तिपथ पर अग्रसर होते हुए भी स्त्री को, सुनहरे सपनों से आप्लावित अपना देवी रूप ही अधिक मोहित करता रहा। कितनी भोली आस्था थी भारतीय स्त्रियों की। दूसरे शब्दों में इन शलाका पुरुषों ने अपने पुण्य-प्रताप से जो वर्चस्ववादी पितृसत्तात्मक सांस्कृतिक-सामाजिक पीठिका तैयार की, स्त्री को उसी कसौटी पर खरा उतरना था। मगर सतीत्व की गरिमा को हासिल करने का प्रयास मानवीय नहीं था। स्त्री-मुक्ति का आंदोलन भी स्वर्णिम भारतीयता की जड़ों को मजबूत करने का एक और माध्यम बना। मजे की बात तो यह है सनातनवाद के दुश्चक्र में फंसी स्त्री ने इन कुलीन विद्वानों को ही अपनी मुक्ति का समर्थक मान लिया और वे भारतीय नारीवाद का जामा पहनकर खड़ी हो गई। बिना यह समझे कि इससे न केवल बहनापे की वैश्विक अवधारणा खटाई में पड़ जाएगी बल्कि स्वयं भारतीय नारीवाद भी सवर्ण/दलित, शहरी/ग्रामीण जैसे द्वित्व में बंट जाएगा। पितृसत्ता की ये साजिशें अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त होती रहीं। पश्चिमी नारीवाद कभी उदारवाद की तरफदारी करता हुआ दिखलाई देता है तो कभी उपभोक्तावाद की पैरवी करता हुआ या कभी तीसरी दुनिया की स्त्रियों के सस्ते श्रम का रसीला फल चखता हुआ। भारतीय नारीवाद ने पश्चिमी स्त्रियों की इस विरोधाभासी मानसिकता की जमकर कुटाई तो की, पर अपने गिरेबां में कभी झांककर नहीं देखा कि भारतीय स्त्री के व्यक्तिगत और सामाजिक विकास में जाति-प्रथा, वर्ण-व्यवस्था किस रूप में बाधक है और आज भी कैसे भारतीय पुरुषों के निहित स्वार्थों का षड्यंत्रकारी हथकंडा स्त्री से अपेक्षा करता है कि वह पूरी निष्ठा से केवल पुरुष को ही समर्पित रहे। स्त्री कभी पूछ नहीं पाई कि उसकी जाति, वर्ण और गोत्र का निर्धारण पिता या पति ही क्यों करता है? क्या

स्त्री अपना वर्ण तय करने में हमेशा असमर्थ रहेगी? मजे की बात तो यह है कि भारतीय नारीवाद ने सनातनी/वर्णाश्रमी/आर्य ब्राह्मणवादी धर्म, संस्कृति और भारतीयता/राष्ट्रीयता में कोई फर्क ही नहीं देखा। भारतीय नारीवाद के नाम पर स्त्रियां धुर नैतिकतावादी दृष्टिकोण अपना बैठी, जिससे स्त्री मुक्ति की लड़ाई में मर्दवादी व्यवस्था के प्रति वह आक्रामक तेवर नहीं आ सका जो किसी भी मुक्ति-आंदोलन के लिए जरूरी होता है। एक रुक्माबाई से न तो स्त्री आंदोलन तीखा होगा और न स्त्री के सरोकार बुलंद होंगे। नारीवाद को रुक्माबाई की परंपरा को व्यापक रूप से बढ़ाना होगा। समझ लेना होगा कि स्त्री को सिखाए जानेवाले संयम, त्याग और संन्यास की भाषा में अंतर्निहित है पुरुष द्वारा उसे कब्जे में रखने की आकांक्षा। ये वे लुभावने शब्द हैं जिनकी आड़ में जाने-अनजाने स्त्री एवं स्त्री मुक्ति के समर्थक, स्त्री विरोधी प्रतिगामी शक्तियों को मजबूत ही करते रहे। ये कुछ बीज शब्द थे जो आगे बढ़ती हुई स्त्री के सर पर तलवार की तरह लटके हुए थे। इनका अर्थ भी भारतीय स्त्रियों ने पुरुषों द्वारा पढ़ाए पाठ से ही सीखा। मानव अधिकार के संदर्भ में ये पाठ लोकतांत्रिक उद्देश्यों की चर्चा तो करते हैं लेकिन अपने दृष्टिकोण में ये घोर अलोकतांत्रिक हैं। सबसे पहले दबी-कुचली स्त्री की राजनीतिक जागरूकता से यही परंपरावादी वर्ग आतंकित होता है, और स्त्री से कहता है कि पश्चिम की ओर नहीं, अपने भारतीय अतीत से प्रेरणा लो। मगर जिस अतीत की वह बात करता है, वह तो एक काव्यमयी कल्पना थी, जिससे अभाव और गरीबी की मार झेल रही, जाति-उपजाति, छूत-अछूत की पंक्तियां बुरी तरह बंटी और एक-दूसरे से लड़ती-झगड़ती स्त्रियों को कैसे कोई प्रेरणा मिल सकती है। माना कि कूप-मंडूक, विभाजित और अशिक्षित स्त्री को सांस्कृतिक आदर्श में ढालना जरूरी था, मगर इस पर भी गौर करना होगा कि किस हद तक? और किन आदर्शों के अनुरूप? वर्णाश्रमी भावभूमि के कारण विवेकानंद और गांधी के वंशज स्त्री-मुक्ति के प्रति अपनी रूमानीयत से बाहर नहीं निकल पाए। आज भी उनका मानना है कि पश्चिमी आधुनिका से भारतीय स्त्री को जबर्दस्त खतरा है। ये घर-फोड़ू, बालकटी, सिगरेट, शराब पीनेवाली, बात-बात पर तलाक देनेवाली पश्चिमी औरतें हैं, जिससे भारतीय स्त्री को बचकर रहना होगा। दरअसल इसके मूल में सवर्ण व्यवस्था को बचाए रखने की चेष्टा, दलितों के उभरते हुए आंदोलन से पीछा छुड़ाना, और प्राचीन भारत को पुनः स्थापित करना है। स्त्रियों को समझा दिया गया कि अतीत में स्त्री का दमन, शोषण कभी था ही नहीं, दमन तो मुसलमानों, अंग्रेजों की देन है। लेकिन नारीवाद ने पाया कि मिथकों, पुराणों, वैदिक ऋचाओं के उस युग में स्त्री कभी मुक्त थी ही नहीं। विवेक बुद्धि के बदले स्त्री को पितृसत्ता के प्रति अंधआस्था का पाठ पढ़ाया गया, मगर कभी भूले से स्त्री की स्थिति में परिवर्तन की मांग नहीं की गई। अतः सुधारवाद के इस पाठ को स्वीकारना भारतीय नारीवाद की एक भारी गलती थी। नारीवादी स्त्रियों ने सामाजिक नारों को मुक्ति का क्रांतिकारी आह्वान समझ लिया और इस कारण यथास्थिति के खिलाफ कोई नया विकल्प प्रस्तुत करने के बदले, प्राचीन वर्णाश्रमी यथास्थितिवाद की ही पैरोकारी करती रही।

लेकिन हमारे पूर्व/पुरुषों को इस बात का दूर-दूर तक ख्याल नहीं था कि अनजाने ही उन्होंने अपने ही घरों के खिड़की-दरवाजे खोल दिए हैं, जिसके चलते अब कभी उदारवादी सांस्कृतिक सर्वानुमति और राजनीतिक सहमति बन नहीं पाएगी। अंग्रेजों ने जिस प्रक्रिया को जन्म दे दिया था, उससे समाज की निचली गहराइयों में मुक्तिकामी आंदोलन तेज़ हो रहे थे। भारतीय समाज और संस्कृति केवल स्मृति, पुराण और वर्णाश्रम नहीं है, और न ही सती जैसी शर्मनाक प्रथाओं का समर्थन करता हुआ पंथ है। भारतीय समाज भी अन्य समाजों की भांति भौतिकता से विमुख भी नहीं है। धार्मिक देव-देवी न तो अ-सेक्सुअल है और न ही अपने निजी स्वार्थों से ऊपर उठे हुए हैं। अतीत को पुनर्स्थापित करने के पीछे विदेशी

आक्रमणकारियों से पराजित जातीय मानस को हीनता की ग्रंथि से मुक्त करने की चेष्टा तो थी, मगर इस सारी प्रचेष्टा में स्त्री की भूमिका केवल एक सहयोगी की थी, अलग से उसके लिए कोई परियोजना नहीं थी। स्त्री से कहा गया कि बिना कुछ छिन्न-भिन्न किए, बिना पारंपरिक पाठ को विखंडित किए स्त्री को सबकुछ हासिल हो जाएगा। मुक्ति का यह एक असंभव सपना था।

भारतीय नारीवाद के इतिहास में 80 के दशक में एक महत्वपूर्ण घुमाव आता है। एक ओर राजीव गांधी नई शताब्दी की बात कर रहे थे, भारत अपने दरवाजे खोल चुका था तो दूसरी ओर विश्व में होने वाले अन्य परिवर्तनों का भी भारतीय चिंतन पर प्रभाव पड़ रहा था। शाहबानो का मुद्दा एक ऐसा मुद्दा था जो भारतीय पितृसत्ता के सोच और चिंतन में अंतर्निहित द्विविधा और द्वंद्व का पर्दाफाश करता था। इन्हीं दिनों रूपकुंवर की घटना भी घटी। जन-विद्रोह और विरोध के कारण सतीत्व के मसले पर राष्ट्रीय बहसें छिड़ गईं। भारतीय स्त्रियों ने पहली बार समझा कि सतीत्व कोई दैवी गुण नहीं, बल्कि पितृसत्तात्मक ढांचा है। दहेज की आग में जलनेवाली लड़कियां पहले भी थीं, पर अब इन घटनाओं पर मीडिया ने ध्यान देना शुरू किया। सफल शहरी स्त्रियों की जीवन-शैली टीवी के पर्दे पर दिखाई जाने लगी, दहेज और दहेज के कारण वधू-दाह, तलाक एवं यौन हिंसा जैसे निजी और घरेलू मुद्दे हर गली चौराहों के नुक्कड़ पर होने वाले रोजमर्रा की बहसों के केंद्र में आ गए। इन घटनाओं से आतंकित हिंदुत्ववादी पितृसत्ता ने एक बार फिर अपनी जमीन मजबूत करनी शुरू की। सत्ता को सहमति की आवश्यकता थी और सहमति के लिए जब तक किसी मुद्दे का राजनीतिकरण न किया जाए तब तक उसे अपने पक्ष में नहीं मोड़ा जा सकता। सबके लिए समान कानून का जमकर राजनीतिकरण हुआ और पश्चिमी विचारों को अपनाने से भारतीय संस्कृति के लिए कितना खतरा है, इसे भी बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया। सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों ने पुनः अतीत से प्रेरणा ली तथा भारतीय स्त्री को राष्ट्रवाद के प्रतीक-चिह्न के रूप में स्थापित किया। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान यदि वह 'भारत माता' थी जो 80 के दशक के पश्चात वह दुर्गा-शक्ति बनकर उभरी, लेकिन राष्ट्रीय मानस में दुर्गा का पौराणिक रूप ही अंकित था। दुर्गा रूप का आधुनिकीकरण कभी नहीं हुआ। राष्ट्रवाद को एक बार फिर महत्वपूर्ण प्रेरक विमर्श के रूप में स्थापित किया गया। हालांकि यहां राष्ट्रवाद की मुक्तिदायी संभावना से इंकार नहीं किया जा रहा, मगर स्त्री के संदर्भ में उत्तर-औपनिवेशिक भारत राष्ट्र की विकासशील भूमिका प्रस्तुत करने के विरुद्ध, राष्ट्रवाद का एक दकियानूसी दृष्टिकोण पेश करता है। राष्ट्रवाद का यह निषेधक पहलू है जो हिंदू और मुसलमान, दलित और सवर्ण स्त्री के बीच की खाई को और अधिक बढ़ावा देता हुआ दिखाई देता है।

पचास साल पहले भारतीय राष्ट्रवाद ने औपनिवेशिक प्रभावों को उखाड़ने की दिशा में अपना ध्यान केंद्रित किया था। हालांकि सामाजिक, वर्गीय, जातीय भिन्नताएं उस समय थीं किंतु अब उन भिन्नताओं ने क्षेत्रीय एवं अलगाववादी आंदोलनों का रूप ले लिया तथा धर्म और जातियों की दरार स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। किसी भी राष्ट्रीय विचारधारा के लिए इन तमाम टुकड़ों को जोड़े रखना मुश्किल होता है। राष्ट्रवाद का आदर्श चाहे जितना भी आकर्षक लगे, किंतु समाज में अंतर्निहित कुछ ऐसे अंतर्विरोध पहले से विद्यमान थे जो प्रकट होने लगे। आपसी संघर्ष के रूप में धर्म सबसे प्रमुख तत्व बना। बिना धार्मिक पहचान के राष्ट्रवादी चर्चा करना संभव नहीं रहा। यह नया भारतीय राष्ट्रवाद, स्त्री के अधिकारों और स्त्री मुक्ति से कोई सरोकार नहीं रखता था। यह तो हिंदू राज्य चाहता था। भारतीय नारीवाद को भी यही दक्षिणपंथी विचारधारा प्रभावित करती है। हिंदू पुनुर्त्थानवादियों ने स्त्री के लिए मां और पत्नी की भूमिका को ही अनिवार्य बताया और परिवार पर आए हुए जोखम को एक धार्मिक

खतरे के रूप में प्रस्तुत किया गया। भारत में अतीत से वर्तमान समय तक राष्ट्रवाद के साथ नारीवाद का एक संबंध बड़ा सतही रहा है। यहां नारीवाद को एक ह्रासोन्मुख पश्चिमी पूंजीवाद का उत्पादन मानकर इसे यह कहकर उस विदेशी संस्कृति पर आधारित बताया गया था जिससे तीसरी दुनिया की स्त्रियों से कोई संबंध नहीं है। शायद यही कारण है कि भारतीय स्त्री, मुक्ति की इच्छा जाहिर करते ही एक अजाने अपराधबोध से भर जाती है। उस पर परंपरा का बोझ इतना अधिक है कि मुक्ति-पथ पर अग्रसर स्त्री को बार-बार अपनी भारतीयता को स्थापित करना पड़ता है, बार-बार वह पुरुषों से अर्ज करती है कि भारतीय स्त्रियां भी राष्ट्रीय हित से उतनी ही संलग्न हैं जितना एक पुरुष। बार-बार उसे स्वयं का पश्चिम विरोधी होना घोषित करना पड़ता है। चूंकि विमर्श के केंद्र में पश्चिम रहा है, अतः हमारे लोक-नायकों ने भी पश्चिमी स्त्री की तर्ज पर एक प्रामाणिक भारतीय स्त्री को संस्थापित करना चाहा, जो इतिहास में अपना औचित्य स्थापित कर सके। जबकि जरूरत थी कि भारतीय नारीवाद, राष्ट्रवाद को जैसा का तैसा स्वीकार करने के स्थान पर राष्ट्रीयता की अवधारणा पर विचार-विमर्श करता। काश, भारतीय स्त्री कह पाती कि वह पहले मनुष्य है, फिर स्त्री और अंत में भारतीय। ऐसा कहने से उसे भारतीय होने की दौड़ में अपने मानवीय अधिकारों को तिलांजली नहीं देनी पड़ती। कौन अधिक हिंदू है या मुसलमान इसके लिए दुर्गावाहिनी का गठन नहीं करना पड़ता।

यहां दो प्रमुख उदाहरणों से बात और अधिक स्पष्ट होगी। एक विश्व सुंदरी का मुद्दा और दूसरा यौनकर्मियों का मुद्दा। 1996 में जब विश्व सुंदरी का कार्यक्रम हुआ तो बहुतेरी स्त्री विचारकों ने जमकर इसका विरोध करते हुए इसे अश्लील और स्त्री देह का वस्तुकरण कहा। बल्कि कुछ का कहना था कि सौंदर्य प्रतियोगिता स्त्री के प्रति एक प्रकार की हिंसा है जो स्त्री को चुनाव का झूठा भ्रम देती है। उत्पीड़ित भारतीय स्त्री, एक पश्चिमी स्त्री से बिल्कुल अलग है। वास्तविक मिस इंडिया, इस पश्चिमी 'ब्यूटी क्वीन' से इसलिए अलग है, भारत में प्रत्येक 4 मिनट पर स्त्री के खिलाफ एक अपराध दर्ज होता है, प्रत्येक 47 मिनट पर एक स्त्री का बलात्कार होता है, प्रत्येक 44 मिनट पर एक स्त्री का अपहरण और प्रत्येक 17 मिनट पर दहेज के लिए एक स्त्री की हत्या होती है। पश्चिम में यह स्थिति बिल्कुल नहीं है। अतः भारतीय स्त्री को जिस अकथनीय दमन और संत्रास से गुजरना पड़ता है, पश्चिमी स्त्री को इसका अनुभव ही नहीं है। यहां की स्त्री को संरक्षण मिलना पहली प्राथमिकता है। राष्ट्रवादियों ने भी जमकर सौंदर्य प्रतियोगिता की निंदा की। इस संदर्भ में अधिकतर नारीवादी स्त्रियों को हिंदू राष्ट्रवादी पार्टी के साथ एक ही मंच पर आना पड़ा, क्योंकि हिंदू राष्ट्रवादी पार्टियां भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण का दावा कर रही थी। राष्ट्रीय महिला आयोग (नेशनल कमीशन ऑफ वुमैन) ने स्विमिंग सूट पहनी अर्धनग्न स्त्रियों के प्रदर्शन का इतना विरोध किया कि अंततः सौंदर्य प्रतियोगिता के स्थान का चुनाव मॉरिशस द्वीप हुआ।

ऐसा ही एक और क्षेत्र है जिसने भारतीय नारीवाद को पश्चिमी नारीवाद से अलग दृष्टिकोण दिया। भारतीय नारीवाद के अनुसार पश्चिमी समाज में वेश्यावृत्ति को निंदनीय होते हुए भी 'स्वयं अपने चुनाव' के रूप में देखा जाता है जबकि भारत में कोई अपने चुनाव से वेश्या नहीं बनती, वेश्या बनना उस स्त्री की मजबूरी है। कलकत्ता में हुए अंतर्राष्ट्रीय यौनकर्मियों के सम्मेलन और वेश्याओं द्वारा बेहतर कार्य-जगत तथा अपने श्रम की पहचान की मांग को निंदनीय दृष्टि से देखा गया। उदारीकरण के बावजूद भारत के उपभोक्ता समाज में भी संदर्भ का अंतिम बिंदु परिवार एवं समुदाय ही है, पश्चिम में ऐसा नहीं है।

ये सारे नारीवादी विमर्श पूर्व और पश्चिम के द्वित्व पर आधारित हैं। ये विमर्श स्वीकारते हैं कि पश्चिमी जीवन में

चुनाव संभव है उधर भारत में आर्थिक दमन के कारण चुनाव की स्वतंत्रता नहीं है बल्कि दमन के कारण उत्पीड़न है। दूसरे ये विमर्श अपने-आप में कुछ सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों को समाहित किए हुए हैं। इनके अनुसार भारत में संस्कृति, समुदाय से संबंधित है जबकि पश्चिम में यह व्यक्तिवाची है। भारतीय स्त्री मूलतः सती और शुद्ध है, वह ठगती नहीं, झूठ नहीं बोलती, ठगी जाती है। इसके विपरीत पश्चिम की स्त्री उच्छृखंल है और बाजार की उपभोक्ता संस्कृति से संचालित है। अतः भारतीय नारीवादी विमर्श का उद्देश्य है एक प्रामाणिक भारतीय स्त्री की स्थापना करना। स्त्री को उत्पीड़ित मानने के साथ भारतीय नारीवाद की राष्ट्र से यह अपेक्षा की जाती रही कि वह स्त्री का संरक्षण करे, ताकि वह अपने भारतीय नारीत्व को बचा सके, अपने शील की रक्षा कर सके। भारतीय नारीवाद चाहता है कि स्त्री के मुद्दों पर कानून दमनकर्ता को मृत्युदंड भी दे। हालांकि 2001 में बीजेपी सरकार, स्त्री के सशक्तीकरण के मुद्दे को उठाते हुए नया आपराधिक कानून बनाती है, जो दहेज, घरेलू हिंसा का विरोध, वेश्यावृत्ति और अश्लीलता को दंडनीय मानता है। यहां तक कि यौन-उत्पीड़न से संबंधित कानून को भी आपराधिक कानून के अंतर्गत रखा गया। किंतु इन आपराधिक कानूनों के बावजूद सरकार ने स्त्री अधिकार से संबंधित नागरिक कानून, स्वतंत्रता, स्वायत्त समानता की चर्चा कभी नहीं की। नारीवादी मुद्दों के प्रति सरकार के सांप्रदायिक एजेंडा को समझने में भारतीय स्त्री को वक्त लगा।

स्त्री और राष्ट्रवाद के इस पारंपरिक रिश्ते को भुनाने में संस्कृतिवादी कोई कसर नहीं छोड़ते। उनकी नजर में पश्चिमी साम्राज्यवादी है अतः पश्चिम की स्त्री भी साम्राज्यवादी है। और चूंकि भारत की स्त्री ज्यादा दमित और उत्पीड़ित है इसलिए यहां स्त्री जीवन में सुधार की आवश्यकता अधिक है। किंतु राष्ट्र द्वारा संरक्षक की भूमिका स्त्री की उपस्थिति को नकारती है जिससे न केवल स्त्री को मुख्यधारा में स्पेस कम मिलता है बल्कि उसकी बहुलतावादी वैयक्तिकता का भी ह्रास होता है। आखिर कब तक स्त्री उत्पीड़ित/एजेंट, पश्चिम/पूर्व, पहली दुनिया/तीसरी दुनिया, हिंदू/मुसलमान द्वित्व में बंटे हुए संदर्भों के बारे में सोचते रहेंगी। ऐसी द्वित्ववादी सोच तो स्त्री को लैंगिक विभाजन और सांस्कृतिक सारतत्त्ववाद की ओर ही धकेलेगा। इस प्रामाणिकता की खोज में अग्रसर भारतीय नारीवाद, अपने वास्तविक वृहत्तर मानव-मुक्ति आंदोलन में शामिल नहीं हो पाएगा। उत्पीड़ित वैयक्तिकता अंततः संदर्भों से कटकर एक इतिहासहीनता का शिकार होगी, जो स्त्री को कभी दहेज की वेदी पर झुलसता हुआ छोड़ देगी तो कभी वेश्या बनकर बाजार में धकेल देगी। सवाल उठता है कि इन घटनाओं पर पश्चिम या पूर्व का कौन-सा बिल्ला चिपकाया जाए ताकि यह सारा आंदोलन ज्यादा मानवीय दिखाई दे? क्या नारीवादी आंदोलन का कोई वैश्विक संदर्भ है? क्या ऐसे किसी वैश्विक बहनापे की गुंजाइश है? और क्या महिला लेखन को इस पर ध्यान देना चाहिए?

स्त्री के उत्पीड़न की कथा अंततः स्त्री का सशक्तीकरण नहीं करती। उत्पीड़न की निरंतर चर्चा उत्पीड़क की हैसियत को और मजबूत करती है। ये कुछ ऐसे फंदे हैं जिसमें उलझकर स्त्री अपनी पहचान को कभी स्थापित नहीं कर पाएगी। और न ही पश्चिमी स्त्री के विरोध में खड़े होने से भारतीय स्त्री को मुक्ति मिल पाएगी। बल्कि व्यर्थ के इस विरोध से भारतीय नारीवाद को नुकसान अधिक होगा। इसके कारण स्त्री न तो स्वस्थ मन से सौंदर्य प्रतियोगिता में भाग ले पाती है और न ही यौन-श्रम का उचित मूल्य ही तय कर पाती है। बल्कि पितृसत्ता द्वारा बनी-बनाई पूर्वनिर्मित तस्वीर में फिट होने की चेष्टा स्वयं को व्यर्थ के अपराधबोध से अधिक डंसती है। बहनापे के अभाव में उत्पीड़ित स्त्री बहुत जल्दी पारंपरिक नैतिकता के शिकंजों में जा फंसती है। स्वतंत्रता अर्जन के बदले वह सत्ता से संरक्षण की भीख मांगती हुई नजर आती है। इसी कारण स्त्री के प्रति राज्य एक नैतिक देखरेख

और नियमनकारी भूमिका तो अपना बैठता है किंतु स्वतंत्र स्त्री को राष्ट्रीय मुख्यधारा में स्पेस नहीं दे पाता। जबकि जरूरत है कि नारीवाद अपनी राजनीति को अभिव्यक्त करे। स्त्री के संदर्भ में एजेंसी और चुनाव दोनों पर चर्चा करे। स्त्री के जीवन में वह एजेंसी न पूरी तरह उसके भीतर स्थित है और न यह बाह्य जगत में, बल्कि एजेंसी सामाजिक संबंधों में प्रवाहमान है। और एक रूपांतरणकारी राजनीति के रूप में उसके जीवन को निर्मित करती है।

पुरुष सत्ता और स्त्री अधिकार के स्वाभाविक बैर और विरोध को झूठी उदारता, झूठी भारतीयता और झूठी मुक्ति के आश्वासन से ढंकना उचित नहीं। शोषण और असमानता को स्वीकारने वाले स्वयं को उदात्त कहकर भले ही अपनी पीठ थपथपाते रहें, मगर इससे उनका विशेषाधिकार, उसकी केंद्रियता और उनका वर्चस्व हाशियों पर फेंकी गई स्त्री की आंखों से ओझल नहीं हो जाता। उत्तरोत्तर विकसित होते हुए नारीवादी चिंतन को—आरोपित भारतीय राष्ट्रीयता से भी मुक्त होना है।

बहुलता का अर्थ अलग-अलग खांचों में बंद सांस्कृतिक मूल्यबोध नहीं है। संस्कृति से ऊपर है मनुष्यता, जो स्त्री को अब तक उपलब्ध नहीं हुई है। बहुलता की अवधारणा का समर्थन हमें एक कारगर संवाद की तरफ ले जाता है। यदि स्त्री-हितों की चर्चा की जा रही है तो हमें प्रत्येक मानव स्त्री की बात करनी होगी। स्त्रियों में जितनी भी बहुलताएं हैं, उन्हें एक-दूसरे के समकक्ष रखना होगा। हममें से अन्य कोई भी स्त्री शोषित होती है, हिंसा का शिकार होती है तो मानवीय मूल्यों का तकाजा है कि उस पर ध्यान दिया जाए ताकि इस मानव (और स्त्री) के प्रति नया दृष्टिकोण विकसित किया जा सके। स्त्री के प्रति अभी तक मानवीय दृष्टिकोण निर्मित नहीं हो पाया है। माना कि स्त्री की अस्मिता-यात्रा को राष्ट्र के दायरे में कुछ कदम और चलना पड़ेगा, लेकिन उसकी यह यात्रा निकासी के दरवाजे की तरफ होगी। स्थानीय के माध्यम से वह सार्वभौम की ओर जाएगी और सार्वभौम के जरिए स्थानीय को पकड़ेगी। वह पुरुष-समाज को पक्षधरता के लिए मजबूत करेगी, पर अलगाववादी चिंतन और अपने घेटोकरण से बचते हुए विभिन्नता और बहुलता का झंडा भी बुलंद करती रहेगी। हिंदुत्व के राजनीतिक आक्रमण का प्रतिरोध करते हुए धर्मनिरपेक्षवादियों के उकसावे में नहीं आएगी वरना उसे एक बार फिर धर्मनिरपेक्षता बनाम सांप्रदायिकता जैसे घिसे-पिटे डिबेट से गुज़रना होगा। अपनी पहचान के सवाल पर उसे अपना वक्तव्य अलग से जारी करना होगा।

निश्चय ही हिंदी साहित्य में इन सामाजिक और राजनैतिक विमर्शों का महिला लेखन पर प्रभाव पड़ा है। महिला लेखन ने अलग से पहचान की मांग तो की, पर उस पहचान के लिए कोई स्पष्ट संघर्ष नहीं। उत्पीड़न को अत्यधिक महत्व देने का अर्थ हुआ अपनी दोयम स्थिति की नुकसानदेह व्यवहार स्थिति की चर्चा। महिला लेखन में स्वर बड़ा स्पष्ट रहा है—मेरे साथ अन्याय हुआ है, मैं वंचित हूं, परिधिकृत हूं, अतः सत्ता का न केवल मेरे साथ सहानुभूति व्यवहार होना चाहिए बल्कि मुझे संरक्षण भी मिलना चाहिए। दूसरे आरोपित शुचितावोध से महिला लेखन कभी मुक्त नहीं हो पाया, उसके जेहन पर पुरुष प्रदत्त आदर्शवादी चौखटा हमेशा लटका रहा, जिसमें फिट होना उसकी नियति रही। भीतर से जख्मी पर ऊपर से स्थिर मुस्कान लिए। (आत्मपीड़न और पर-पीड़न का अद्भुत मिश्रण स्त्री लेखन में शुरू से आखिर तक घुला हुआ रहता है।) महिला लेखन साहित्यिक प्रतिमानों के प्रति समर्पित भी था और अलग से अपनी पहचान भी चाह रहा था। यदि लेखन में अंतर्निहित विरोधाभासों को भी समझा जाता तो महिला लेखन क्रमशः और अधिक विकसित होता।

महिला लेखन शुचिता बोध के अत्यधिक आग्रह से आक्रांत रहा है, अपनी बात कहनी तो है पर किस हद तक? अपने उपन्यास में एक बोल्ड नायिका को पेश तो करना है, मगर यह बोल्डनेस दुस्साहस में परिणत नहीं हो जाए? लेखन में अंतर्निहित इस आत्म चौकन्नेपन से स्वयं की छवि तो

धवल बनी रहती है, मगर लेखनी गीली लकड़ी सी धुंधुआती रहती है। तथ्य को ढंकने के लिए कलात्मकता की आड़, वास्तविक समस्याओं को सतह पर नहीं लाने देती। जिन मुद्दों की तरफदारी करनी चाहिए वही मुद्दे उपेक्षित रह जाते हैं। स्त्री के मन में आक्रोश सिर्फ यौन-दमन का ही नहीं होता, न केवल अपने यौन जीवन के बारे मे खुलकर लिखने से ही उसकी लेखनी उन्मुक्त और स्वतंत्र हो जाएगी। मुक्ति पथ पर अग्रसर स्त्री को तो हजारों छोटी-छोटी लड़ाइयां लड़नी पड़ती हैं। संभव है निरर्थक दबाव/दमन/शोषण से कभी संपादक, आलोचक को, तो कभी आफिस के बॉस को, या पति देवता को लतियाने गरियाने का मन करे। संभव है निजी जीवन में छुपे तौर पर स्त्री ने ऐसा किया भी हो, चोरी की हो, झूठ बोला हो, शराब पीकर घर की देहरी पर धुत पड़ गई हो, बेरहमी से मासूम बच्चे को पीटा हो, वृद्धा सास को घर से बाहर ढकेल दिया हो, कितना कुछ है जिस पर मर्यादा के नाम पर स्त्री पर्दा डाले रहती है, कितना कुछ अनकहा है जो भीतर खदबदाता रहता है, मगर खौलकर बाहर नहीं आ पाता। किसी ने उसे ठगा हो या उसने किसी पुरुष की जिंदगी से खेला हो, पर नहीं इन मुद्दों पर अभी तक महिला लेखन अपने पाठकों के साथ विमर्शकारी संबंध नहीं बना पाया है। मर्यादा और उच्छृखंलता के द्वित्व में सोचने का अभ्यास स्त्री को मर्यादित जीवन जीने को बाध्य करता है। मर्यादा को छेड़ते ही उच्छृखंल होने का भय स्त्री को सताने लगता है। किंतु यह साफ-साफ समझना होगा कि परंपरा/आदर्श/ तथा मानवीय गरिमा और मर्यादा जैसे शब्द एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं।

यह कहना भी गलत नहीं है कि स्त्री अपने बारे में सदियों से चुप रहती आई है। यह एक ऐसी खामोशी है जो स्त्री के लेखन-संसार में शुरू से आखिर तक छाई रहती है। उसका बहुत कुछ अनकहा रह जाता है। स्त्री का यह अनकहा जगत इसकी अज्ञानता का सूचक नहीं (ऐसा भी नहीं कि वहां केवल अभिव्यक्ति की समस्या हो) बल्कि कुछेक क्षेत्रों में वह जान-बूझकर खामोश रहती है। क्योंकि वह भली-भांति जानती है कि पितृसत्ता की दमनकारी शक्ति उसे कितनी छूट दे सकती है, कितनी नहीं। सदियों से उत्पीड़ित होती हुई स्त्री साहित्य-जगत में भी कुंठित है। वह पुरुषों की पैंतरेबाजी से आतंकित है, संपादक-मंडल की लाल स्याही के सामने असुरक्षा और हीनता के बोध से जकड़ी है। आज भी तो पुरुष संपादक और पुरुष आलोचक लेखिकाओं से कहते हैं कि तुम यह लिख सकती हो और यह नहीं। उनका मसीहाई रवैया सब कहीं हावी है।

स्त्री-समस्या के प्रतिनिधित्व की तीन मुख्य बातें हैं : पहली, क्या स्त्री-लेखन द्वारा ही स्त्री-जाति का सही प्रतिनिधित्व संभव है? राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्त्री-लेखन निहित तनावों से हम सभी वाकिफ हैं। दूसरी, स्त्री-लेखन अपनी अलग पहचान के साथ समानांतर धारा के रूप में कितनी दूर तक जा पाएगा? पिछले दो दशकों से महिला लेखन की अलग से चर्चा हो रही है। अलग साहित्यिक धारा का यह अर्थ नहीं कि यह एक स्थायी पहचान के रूप में बनकर भी उभरेगा। सच है कि स्थितियों के परिवर्तन के साथ संदर्भ बदलते रहते हैं। फिलहाल कुछ ऐसे सामाजिक मुद्दे हैं जिन्हें उठाने में केवल महिला लेखन ही समर्थ है। अतः यह स्थापित साहित्यिक धारा से भिन्न है। विशेषकर इतिहासकार, नृतत्त्वशास्त्री आदि के अध्ययनों के लिए नारीवादी लेखन प्रामाणिक विषय-वस्तु प्रस्तुत करने में समर्थ है। पितृसत्ता के मुकाबले स्त्री अपने लेखन में अधिक मानवीय व्यवस्था को प्रस्तुत करने में सक्षम है। यहां स्त्री को विशद रूप के माध्यम से उसके अपने जीवन-संबंधी ज्ञान, मूल्यबोध, परंपरा आदि पर विचार करना होगा।

आज स्त्री हर विषय पर लिख रही है—स्त्री विषयक शोधकार्यों की कमी नहीं। हजारों छोटे-छोटे मुद्दे और उन पर किए गए विश्लेषण आंखों के सामने तैरते रहते हैं। औरत की कहानी का अंत नहीं। पुस्तकालयों में सत्ता, परंपरा और इनके

खिलाफ की गई व्यक्तिगत लड़ाइयों का लेखा-जोखा, भरा पड़ा है। दुनिया के हर देश में, हर कोने में औरत अपने बारे में लिख रही है। वह चुप नहीं बैठेगी, क्योंकि उसमें वही आग है जो कभी अश्वेत गुलामों के हृदय में धधका करती थी। वह इतनी भोली और मासूम नहीं रही कि सत्ता के दमनकारी पैंतरों को न समझे।

माना कि वह कोई अहम घोषणा नहीं करने जा रही और न ही अपने व्यक्तित्व का महिमा-मंडन कर रही है, लेकिन व्यक्तिगत अनुभवों का यह दस्तावेज अपने-आप में साहित्यिक आंदोलन है। उसे सत्ता की नीयत पर शक है। दिखाए गए सपनों को अपनाने से वह इंकार कर रही है। वह भी इसी जगत में स्थित है, उसके प्रति लगावों से भरी है। यह एक ऐसा लगाव है जो उसे नट की रस्सी पर चलते रहने का साहस देता है। वह भाषा का प्रयोग अपने लिए करती है। और यह भी जानती है कि कब भाषा में हस्तक्षेप करना चाहिए। स्त्री लेखन के अंतर्विरोध भी आज खुलकर सामने आ रहे हैं।

क्या नारीवाद को राष्ट्र की सीमा से परे नहीं जाना चाहिए? क्या आधी दुनिया को भूमंडलीय स्तर पर अपनी समस्या के बारे में विचार-विमर्श नहीं करना चाहिए? क्या भाषा, संस्कृति, धर्म और राष्ट्र से संबंधित विभेदीकरण की स्थायी लक्ष्मण रेखाओं को लांघने का अर्थ किसी अशुभ से सामना करना ही होगा? हर देश का अपना सोच है, जीने की आदतें हैं, परंपराएं हैं। अफ्रीका में यदि एक अश्वेत लड़की को 'भगशिश्न' की शल्य क्रिया की पीड़ा से गुजरना पड़ता है तो यह कहना कि इससे श्वेत स्त्रियों को क्या लेना-देना? वे क्यों किसी अन्य समुदाय की परंपरा में हस्तक्षेप करें? इस पर उन्हें सोचने का अधिकार किसने दिया? या फिर हमारे देश में मध्यप्रदेश की कंजड़ जाति में यदि स्त्री को अपना सतीत्व, अपनी शुचिता प्रमाणित करने के लिए जलते अंगारों को हाथ में लेना पड़े तो इसे स्थानीय समुदाय की अपनी परंपरा कहकर अनदेखा करना स्त्री के हित में नहीं होगा।

महिला लेखन केवल दमन की चर्चा में ही संलग्न नहीं रहेगा, वह केवल हाशियों पर बने रह जाने का विलाप ही नहीं करता रहेगा बल्कि स्त्री मुक्ति के नए आयामों का अन्वेषण करेगा। वह स्मृतियों को दोहराते और समझते हुए अनुभवगत तथ्यों के अलावा ठोस भविष्य की कल्पनाओं से भी जुड़ना होगा। स्त्री-मुक्ति के प्रयास में उसे न पश्चिमी तर्ज पर चलना है, और न ही हिन्दुत्व की प्रतिक्रियावादी ताकतों से हाथ मिला बैठना बल्कि उस विराट जनमानस का हिस्सा होना है जो अपनी निजता, अपने विचार और मूल्यबोध को संप्रेषित करने में आज तक असफल रहा है। महिला लेखन के मूल में सबसे अधिक है दमन के छुटकारे की प्रवृत्ति...

केवल शोषण और दमन की चर्चा से भी कुछ नहीं होगा। नारीवादी आंदोलन को अन्य जनआंदोलनों से भी संवाद स्थापित करना होगा। उनके साथ चलने से नारीवादी आंदोलन की अपनी पहचान मिट नहीं जाएगी, न आंदोलन की ऊर्जा का क्षय होगा, न हासिल की गई उपलब्धियां धूमिल होंगी बल्कि इससे दमन के व्यापक दुष्चक्र को अन्य लोग भी समझेंगे। एक आंदोलन को दूसरे से न जुड़ने देना सत्ता का दुश्चक्र है। सत्ता जानती है कि आंदोलन जितना अलग-थलग रहेगा स्त्री के शोषण और दमन में उतनी ही आसानी होगी। केवल व्यक्तिगत मुक्ति से किसी को कुछ नहीं मिलनेवाला। एक मुक्त स्त्री को भी औरों के साथ, औरों की मुक्ति के लिए संघर्षरत होना है।

मूल रूप से स्त्री ही चाहती है ज्ञान और स्वतंत्रता। यह कोई अमूर्त चाह नहीं है बल्कि एक जी हुई जिंदगी है, भोगा हुआ सच है, मानस को निरंतर समृद्ध करती हुई जीवन-यात्रा है। स्त्री-लेखन केवल वंचिता का बोध तक सीमित न रहकर नएपन के अन्वेषण का आनंद भी ले तो साहित्यिक कर्म की अंतहीन संभावनाओं से उसका परिचय होगा। सारी बाधाओं को पार करते हुए विकास की जो नई राहें खुलेगी, वे अपने आप में अप्रतिम आनंद के स्रोत की तरह उसे आनंद और

ऊर्जा देंगी। सबसे बड़ी जरूरत है कि अपने लेखन में स्त्री अपने भीतर के भय को जीत ले, लोग क्या कहेंगे, घरवाले नाराज होंगे, दुखी होंगे, बवंडर होगा, इन ख्यालों से वह निजात पा ले। यहां किसी गैर-जिम्मेदाराना दृष्टिकोण को अपनाने की बात नहीं की जा रही। वस्तुतः नारीवादी विचारों से स्त्री पाती ज्यादा है, खोती कम है। उसे तो बस भयमुक्त होकर एक लंबा रास्ता तय करना है। पारंपरिक तर्कों को अपनाने की बजाए महिला लेखन केवल बदलाव की जरूरत महसूस करे, नए मुकामों से आगे चलता रहे, इसी का नाम होगा मुक्ति का अभियान।

आज स्त्री-लेखन के लिए नई ऐतिहासिक चुनौतियां और राजनीतिक अनिवार्यताएं पैदा हो गई हैं। अनुभवों की जटिलताएं बढ़ी हैं और स्त्रियों की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के बीच उम्र के आधार पर भिन्नताएं स्थापित हुई हैं। कम-से-कम दो प्रकार की स्त्रियां सामाजिक मंच पर जरूर दिखाई देती हैं : एक वे जो सक्रिय आंदोलनकर्ता हैं, और दूसरी वे जो अकादमियों और बौद्धिक जगत में कार्यरत हैं। नारीवाद की वास्तविक चुनौतियां साहित्यिक संस्थानों और बौद्धिक संरचनाओं में अंतर्निहित विरोधाभास ही हैं। नारीवाद का यह क्रांतिकारी पक्ष आज भी अपनी गति को बनाए हुए है और किसी भी प्रकार की वैचारिक जड़ता से परहेज करता है।

सिद्धांत और व्यवहार में तारतम्य लाने के लिए हमें व्यक्तिगत साक्ष्यों को ही महत्व देना होगा। आत्मकथन बहुसंस्कृतिवादी वैचारिक रणनीति का एक महत्वपूर्ण अंग है। नारीवादी सिद्धांतों का सबसे विश्वसनीय आधार स्त्रियों का अपना जीवन अनुभव है, भले ही इन अनुभवों में विरोधाभास हों। शायद इन्हीं विरोधाभासों को विद्वानों ने रेजर्ट एज (क्षुरस्य धार) की संज्ञा दी थी। विरोधाभासों का संश्लेषण एक बौद्धिक चुनौती है। इसी से वह वैचारिक आधार भी निकलेगा जो एक-दूसरे को छोटा-बड़ा, कम या ज्यादा स्थापित करने के स्थान पर एक-दूसरे की भिन्नताओं को सम्मान की नजरों से देखेगा। यदि हम अपने व्यक्तिगत सत्यों को अभिव्यक्त करते हुए, दूसरी स्त्री की कहानी सुनें तथा सांझे जगत में विश्वास और आस्था बनाए रखें तो पाएंगे कि जिसे हम अब तक व्यक्तिगत कहते रहे, वही स्त्री-मुक्ति आंदोलन का सबसे मजबूत सार्वजनिक पक्ष है। गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक लिखती है कि स्त्री-मुक्ति के प्रसंग में हमने अकादमिक जगत में उपदेशक की जो राजनीतिक सीखी, वह एक गलत रणनीति थी। हम या तो सत्ता का अनुसरण कर रही थीं या उसका विरोध। जबकि वास्तविक जरूरत तो यह थी कि हम पाठ के उन क्षणों को पकड़तीं जो सच में हमें स्तंभित करता है, किंकर्तव्यविमूढ़ करता है, ताकि उन स्तंभित क्षणों का विखंडन हो पाता और असमंजस के उन क्षणों को पकड़ा जा सकता है।